UNIVERSAL LIBRARY

OU_180653

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6 | D58S Accession No. G.H.981

Author दिनकर, रामधारी सिंह।

Title सामधेनी। 1947

This book should be returned on or before the date last marked below.

सामधेनी

श्री रामधारी सिंह दिनकर

उदयाचल, पटना

प्रकाशक
आर. सिंह

(सर्वाधिकार लेखक के अधीन)

प्रथम संस्करण फरवरी, १९४७

मुद्रक
देवकुमार मिश्र
हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना

दो शब्द

"सामधेनी" में मेरी इधर कई वर्षों की कुछ स्फुट कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह की "कलिंग-विजय" नाम्नी कविता, "कुरुक्षेत्र" की पूर्व-पीठिका के रूप में लिखी गई थी। किन्तु, "कुरुक्षेत्र" के साथ वह, कुछ स्पष्ट कारणों से ही, नहीं जा सकी। अब वह वर्तमान संग्रह में प्रकाशित हो रही है। आशा है कि जिन पाठकों के पास ये दोनों पुस्तकें मौजूद हों, वे 'कलिंग-विजय' और कुरुक्षेत्र को साथ मिला कर पढ़ेंगे। 'अन्तिम मनुष्य" कविता की प्रेरणा मैथ्यू प्रायर नामक एक अर्द्ध-विस्मृत प्राचीन कवि की "ऐज ऐडम सॉ इट्स् मॉर्न" नामक पंक्ति से मिली थी। अतएव, उनकी आत्मा के प्रति इतना ऋण ज्ञापित कर देना योग्य है। जिन कविताओं के पीछे किसी राजनैतिक चेतना अथवा घटना का प्रभाव है, उनके नीचे दिये हुए रचना-काल को देखने से वह प्रभाव, प्रायः स्पष्ट मालूम पड़ेगा। और कोई रचना, शायद, ऐसी नहीं है जिसका कोई विशेष इतिहास कहना पड़े।

—दिनकर

समर्पण

साहित्य-शिल्पी श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के योग्य

हैं कुमुद फूलते जहाँ, धन्य वह विधुमण्डल,
दिन के प्रदाह से बचे किन्तु, किस भाँति कमल ?
विधु पर आ जाउँ मिले अगर आधार एक,
आत्मा के शिल्पी ! बढ़ा किरण का तार एक।

स्नेहाधीन

दिनकर

विषय-सूची

विषय			पेज
१. अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला	...	...	३
२. तिमिर में स्वर के बाले दीप आज फिर आता है कोई		...	५
३. ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही		...	७
४. वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल दूर नहीं है		...	१०
५. बटोही, धीरे-धीरे गा	...	...	१२
६. रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद	...	...	१४
७. जा रही देवता से मिलने ?	...	...	१६
८. अन्तिम मनुष्य	...	...	१९
९. हे मेरे स्वदेश !	...	...	२७
१०. अतीत के द्वार पर	...	...	३४
११. कलिंग-विजय	...	...	४१
१२. प्रतिकूल	...	...	५२
१३. आग की भीख	...	...	५६

१४. दिल्ली और मॉस्को ५९

१५. सरहद के पार से ६६

१६. फलेगी डालों में तलवार ६८

१७. जवानी का झंडा ७१

१८. जवानियाँ ७४

१९. जयप्रकाश ७९

२०. राही और बाँसुरी ८३

२१. साथी ९१

सामधेनी

१

अचेतन मूर्त्ति, अचेतन शिला।

(१)

रूक्ष दोनों के बाह्य स्वरूप,
दृश्य-पट दोनों के श्रीहीन;
देखते एक तुम्हीं वह रूप
जो कि दोनों में व्याप्त, विलीन,

ब्रह्म में जीव, वारि में बूँद,
जलद में जैसे अगणित चित्र।

(२)

ग्रहण करती निज सत्य-स्वरूप
तुम्हारे स्पर्शमात्र से धूल,
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल।

और यह शिला-खण्ड निर्जीव,
शाप से पाता-सा उद्धार,
शिल्पि, हो जाता पाकर स्पर्श
एक पल में प्रतिमा साकार।

तुम्हारी साँसों का यह खेल,
जलद में बनते अगणित चित्र।

(३)

मृत्ति, प्रस्तर, मेघों का पुञ्ज
लिये मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आयेगा इस ओर
पूर्ण करने कब मेरी चाह।

खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?
प्रकट होगी कब मूर्त्ति पवित्र ?
और मेरे नभ में किस रोज
जलद विहरेंगे बनकर चित्र ?

शिल्पि, जो मुझ में व्याप्त, विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?

१९४५]

२

(१)

तिमिर में स्वर के बाले दीप आज फिर आता है कोई।

'हवा में कब तक ठहरी हुई
रहेगी जलती हुई मशाल?
थकी तेरी मुट्ठी यदि वीर,
सकेगा इसको कौन सँभाल?'

अनल-गिरि पर से मुझे पुकार राग यह गाता है कोई।

हलाहल का दुर्जय विस्फोट,
भरा अंगारों से तूफान,
दहकता-जलता हुआ खगोल,
कड़कता हुआ दीप्त अभिमान।

निकट ही कहीं प्रलय का स्वप्न मुझे दिखलाता है कोई।

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल, यजमान अधीर ;
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ ?
देश को दे ज्वाला के तीर ।

धुओं में किसी वह्नि का आज निमंत्रण लाता है कोई ।

१९४४]

३

(१)

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ?

तब क्यों बाँध रखा कारा में ?
कूद अभय उत्तुङ्ग शृंग से
बहने दिया नहीं धारा में।
लहरों की खा चोट गरजता ;
कभी शिलाओं से टकरा कर
अहंकार प्राणों का बजता।

चट्टानों के मर्म-देश पर बजता नाद तुम्हारा ;
जनाकीर्ण संसार श्रवण करता संवाद तुम्हारा।
भूल गये आग्नेय ! तुम्हारा अहंकार था मैं ही ;
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही।

(२)

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

तब क्यों दह्यमान यह जीवन
चढ़ न सका मन्दिर में अबतक
बन सहस्रवर्त्तिक नीराजन ?
देख रहा मैं वेदि तुम्हारी,
कुछ टिमटिम, कुछ-कुछ अँधियारी।

और इधर निर्जन अरण्य में
उद्भासित हो रहीं दिशाएँ ;
जीवन दीप्त जला जाता है ;
ये देखो निर्धूम शिखाएँ ।

मुझ में जो मर रही, जगत में कहाँ भारती वैसी ?
जो अवमानित शिखा, किसी की कहाँ आरती वैसी ?
भूल गये देवता, कि यज्ञिय गन्धसार था मैं ही,
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ।

(३)

ओ अशेष, निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ।

तब क्यों इस जम्बाल-जाल में
मुझे फेंक मुसकाते हो तुम ?

मैं क्या हँसता नहीं देवता,
पूजा का बन सुमन थाल में ?

मेरी प्रखर मरीचि देखती
उठा सान्द्र तम का अवगुण्ठन ;
देती खोल अदृष्ट-ग्रन्थि,
संसृति का गूढ़ रहस्य पुरातन ।

थकी बुद्धि को पीछे तज कर
मैं श्रद्धा का दीप जलाता,
बहुत दूर चलकर धरती के
हित पीयूष-कलश ले आता ;

लाता वे स्वर जोकि शब्दगुण
अम्बर के उर में हैं संचित ;
गाता वे संदेश कि जिन से
स्वर्ग-मर्त्य, दोनों, हैं वंचित ।

कर में उज्ज्वल शंख, स्कन्ध पर
लिये तुम्हारी विजय-पताका,
अमृत-कलश-वाही धरणी का,
दूत तुम्हारी अमर विभा का ।

चलता मैं फेंकते मलीमस पापों पर चिनगारी,
सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी ।
भूल गये देवता, उदय का महोच्चार था मैं ही,
स्वभूं की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ।

४

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

(१)

चिनगारी बन गई लहू की
बूँद गिरी जो पग से;
चमक रहे, पीछे मुड़ देखो,
चरण - चिह्न जगमग - से।
शुरू हुई आराध्य-भूमि यह,
क्लान्ति नहीं रे राही;
और नहीं तो पाँव लगे हैं
क्यों पड़ने डगमग - से?

बाकी होश तभी तक, जब तक जलता तूर नहीं है;
थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

(२)

अपनी हड्डी की मशाल से
हृदय चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख
झेलते कुलिश निर्मम का।

एक खेय है शेष, किसी विधि
पार उसे कर जाओ ;
वह देखो, उसपार चमकता
है मन्दिर प्रियतम का।

आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है ;
थककर बैठ गये क्या भाई ! मंजिल दूर नहीं है।

(३)

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्तकर
पुण्य—प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल-अक्षरों
में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पिया,
वह फूल खिलायेगी ही,
अम्बर पर घन बन छायेगा
ही उच्छ्वास तुम्हारा।

और अधिक ले जाँच, देवता इतना क्रूर नहीं है ;
थककर बैठ गये क्या भाई ! मंजिल दूर नहीं है।

१९४३]

५

बटोही, धीरे-धीरे गा।

बोल रही जो आग उबल तेरे दर्दीले सुर में,
कुछ वैसी ही शिखा एक सोई है मेरे उर में।
जलती बत्ती छुला न यह निर्वापित दीप जला।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

फुँकी जा रही रात, दाह से झुलस रहे सब तारे,
फूल नहीं, लय से पड़ते हैं झड़े तप्त अंगारे।
मन की शिखा सँभाल, न यों दुनिया में आग लगा।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

दगा दे गया भाग ? कि कोई बिछुड़ गया है अपना ?
मनसूबे जल गये ? कि कोई टूट गया है सपना ?
किसी निठुर, निर्मोही के हाथों या गया छला ?

बटोही, धीरे-धीरे गा।

करुणा का आवेग ? कि तेरा हृदय कढ़ा आता है ?
लगता है, स्वर के भीतर से प्रलय बढ़ा आता है।
आहों से फूँकने जगत-भर का क्यों हृदय चला ?

बटोही, धीरे-धीरे गा।

अनगिनती सूखी आँखों से झरने होंगे जारी ;
टूटेंगी पपड़ियाँ हृदय की, फूटेगी चिनगारी।
दुखियों का जीवन कुरेदना भी है पाप बड़ा।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

नेह लगाने का जग में परिणाम यही होता है,
एक भूल के लिए आदमी जीवन-भर रोता है।
अश्रु पोंछनेवाला जग में विरले को मिलता।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

एक भेद है, सुन मतवाले, दर्द न खोल कहीं जा,
मनमें मनकी आह पचाले, जहर खुशी से पी जा।
व्यंजित होगी व्यथा, गीत में खुद मत कभी समा।

बटोही, धीरे-धीरे गा।

१६४४]

६

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है !
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते ;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न ? है वह बुलबुला जल का ;
आज उठता और कल फिर फूट जाता है ;
किन्तु, फिर भी धन्य ; ठहरा आदमी ही तो ?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।

मैं न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
देख फिर से, चाँद ! मुझको जानता है तू ?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं ? है यही पानी ?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू ?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उसपर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
वाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट् को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिये, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

१९४६]

७

जा रही देवता से मिलने ?
तो इतनी कृपा किये जाओ।
अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ।

आरती, फूल, फल से प्रसन्न
जैसे हों, पहले, कर लेना
जब हाल धरित्री का पूछें,
सम्मुख दर्पण यह धर देना।

बिम्बित है इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भँवर ;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर।

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की,
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की।

ढहती मीनारों की छाया,
गिरती दीवारों की छाया,
बेमौत हवा के झोंके में
मरती झंकारों की छाया।

छाया छाया-ब्रह्माणी की
जो गीतों का शव ढोती है—
भुज में वीणा की लाश लिये
आतप से बचकर सोती है।

झाँकी उस भीत पवन की जो
तूफानों से है डरा हुआ—
उस जीर्ण खपंडल की जिसमें
आतंक-रोर है भरा हुआ।

हिलती वसुंधरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी;
अपने में सिमटी हुई, पलित
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।

झाँकी उस नई परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी;
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी-सी ।

छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है ।

१९४६]

अन्तिम मनुष्य

सारी दुनिया उजड़ चुकी है,
गुजर चुका है मेला;
ऊपर है बीमार सूर्य,
नीचे मैं मनुज अकेला।

बाल-उमंगों से देखा था
मनु ने जिसे उभरते,
आज देखना मुझे बदा था
उसी सृष्टि को मरते।

वृद्ध सूर्य की आँखों पर
माँड़ी—सी चढ़ी हुई है,
दम तोड़ती हुई बुढ़िया—सी
दुनिया पड़ी हुई है।

कहीं नहीं गढ़, ग्राम, बगीचों
का है शेष नमूना,
चारों ओर महा मरघट है,
सब है सूना-सूना ।

कौमों के कंकाल झुण्ड के
झुण्ड, अनेक पड़े हैं ;
ठौर-ठौर पर जीव-जन्तु के
अस्थि-पुंज बिखरे हैं ।

घर में सारे गृही गये मर,
पथ में मारे राही,
रण के रोगी जूझ मरे
खेतों में सभी सिपाही ।

कहीं आग से, कहीं महामारी से,
कहीं कलह से,
गरज कि पूरी उजड़ चुकी है
दुनिया सभी तरह से ।

अब तो कहीं नहीं जीवन की
आहट भी आती है ;
हवा दमे की मारी कुछ
चल कर ही थक जाती है ।

किरण सूर्य की क्षीण हुई
जाती है : बस दो पल में,
दुनिया की आखिरी रात
छा जायेगी भूतल में।

कोटि-कोटि वर्षों का क्रममय
जीवन खो जायेगा,
मनु का वंश बुझेगा,
अन्तिम मानव सो जायेगा।

आह सूर्य ! हम तुम जुड़वें
थे निकले साथ तिमिर से,
होंगे आज विलीन साथ ही
अन्धकार में फिर से।

सच है, किया निशा ने मानव
का आधा मन काला,
पर, आधे पर सदा तुम्हारा
ही चमका उजियाला।

हम में अगणित देव हुए थे,
अगणित हुए दनुज भी,
सब कुछ मिला-जुला कर लेकिन,
हम थे सदा मनुज ही।

हत्या भी की और दूसरों
के हित स्वयं मरे भी,
सच है, किया पाप, लेकिन,
प्रभु से हम सदा डरे भी।

तब भी स्वर्ग कहा करता था
"धरती बड़ी मलिन है,
मर्त्य-लोक-वासी मनुजों की
जाति बड़ी निर्घिन है।"

निर्घिन थे हम क्योंकि राग मे
था संघर्ष हमारा,
पलता था पंचाग्नि—बीच
व्याकुल आदर्श हमारा।

हाय, प्राण ही नहीं, तुझे यदि
होता मांस-लहू भी,
ओ स्वर्वासी अमर ! मनुज-सा
निर्घिन होता तू भी।

काश, जानता तू कितना
धमनी का लहू गरम है,
चर्म-तृषा दुर्जेय, स्पर्श-सुख
कितना मधुर नरम है।

ज्वलित पिण्ड को हृदय समझकर
ताप सदा सहते थे,
पिघली हुई आग थी नस में,
हम लोहू कहते थे।

मिट्टी नहीं, आग का पुतला,
मानव कहाँ मलिन था?
ज्वाला से लड़नेवाला यह
वीर कहाँ निर्घिन था?

हम में बसी आग यह छिपती
फिरती थी नस — नस में,
वशीभूत थी कभी, कभी
हम ही थे उसके बस में।

वह संगिनी शिखा भी होगी
मुझ से आज किनारा,
नाचेगी फिर नहीं लहू में
गलित अग्नि की धारा।

अन्धकार के महागर्त्त में
सब कुछ सो जायेगा,
सदियों का इतिवृत्त अभी
क्षण भर में खो जायेगा।

लोभ, क्रोध, प्रतिशोध, कलह की
लज्जा — भरी कहानी,
पाप — पंक धोनेवाला
आँखों का खारा पानी,

अगणित आविष्कार प्रकृति का
रूप जीतनेवाले,
समरों की असंख्य गाथाएँ,
नर के शौर्य निराले,

संयम, नियम, विरति मानव की,
तप की ऊर्ध्व शिखाएँ,
उन्नति और विकास, विजय की
क्रमिक स्पष्ट रेखाएँ,

होंगे सभी विलीन तिमिर में : हाय,
अभी दो पल में
दुनिया की आखिरी रात
छा जायेगी भूतल में।

डूब गया लो सूर्य ; गई मुँद
केवल — आँख भुवन की :
किरण साथ ही चली गई
अन्तिम आशा जीवन की।

सब कुछ गया; महामरघट में
मैं हूँ खड़ा अकेला,
या तो चारों ओर तिमिर है,
या मुर्दों का मेला।

लेकिन, अन्तिम मनुज प्रलय से
अब भी नहीं डरा है,
एक अमर विश्वास ज्योति-सा
उसमें अभी भरा है।

आज तिमिर के महागर्त्त में
वह विश्वास जलेगा,
खुद प्रशस्त होगा पथ, निर्भय
मनु का पुत्र चलेगा

निरावरण हो जो त्रिभुवन में
जीवन फैलाता है,
वही देवता आज मरण में
छिपा हुआ आता है।

देव, तुम्हारे रुद्र—रूप से
निखिल विश्व डरता है,
विश्वासी नर एक शेष है
जो स्वागत करता है।

आओ खोले जटा — जाल,
जिह्वा लेलिह्म पसारे,
अनल - विशिख - तूणीर सँभाले,
धनुष ध्वंस का धारे।

'जय हो', जिनके करस्पर्श से
आदि पुरुष थे जागे,
सोयेगा अन्तिम मानव भी,
आज उन्हीं के आगे।

१९४२]

हे मेरे स्वदेश !

छिप जाऊँ कहाँ तुम्हें लेकर ?
इस विष का क्या उपचार करूँ ?
प्यारे स्वदेश ! खाली आऊँ ?
या हाथों में तलवार धरूँ ?

पर, हाय, गीत के खड्ग !
धार उनकी भी आज नहीं चलती,
जानती जहर का जो उतार,
मुझमें वह शिखा नहीं जलती ।

विश्वास काँपता है रह-रह,
चेतना न थिर रह पाती है !
लपटों में सपनों को समेट
यह वायु उड़ाये जाती है ।

चीखूँ किसका ले नाम ? कहीं
अपना कोई तो पास नहीं ;
धरती यह आज नहीं अपनी,
अपना लगता आकाश नहीं ।

बाहर है धुआँ कराल, गरल का
भीतर स्रोत उबलता है,
यह हविस् नहीं , है विघ्न-पिण्ड
जो आज कुण्ड में जलता है ।

भीतर-बाहर, सब ठौर गरल,
देवता ! कहाँ ले जाऊँ मैं ?
इस पूति-गन्ध, इस कुटिल दाह
से तुमको कहाँ छिपाऊँ मैं ?

यह विकट त्रास ! यह कोलाहल !
इस वन से मन उकताता है ;
भेड़िये ठठा कर हँसते हैं,
मनु का बेटा चिल्लाता है ।

यह लपट ! और यह दाह ! अरे !
क्या अमृत नहीं कुछ बाकी है ?
भारत पुकारता है, गंगाजल
क्या न कहीं कुछ बाकी है ?

देवता तुम्हारा मरता है,
हो कहाँ ध्यान करनेवालो ?
इस मन्दिर की हर ईंट-तले
अपना शोणित धरनेवालो !

छप्पर को फाड़ धुआँ निकला,
जल सींचो, सुधा निकट लाओ।
किस्मत स्वदेश की जलती है,
दौड़ो ! दौड़ो ! आओ ! आओ !

नारी-नर जलते साथ, हाय !
जलते हैं मांस-रुधिर अपने ;
जलती है वर्षों की उमंग,
जलते हैं सदियों के सपने !

ओ बदनसीब ! इस ज्वाला में
आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझायें कैसे तुम्हें कि
भारतवर्ष तुम्हारा जलता है ?

जलते हैं हिन्दू-मुसलमान,
भारत की आँखें जलती हैं,
आनेवाली आजादी की
लो ! दोनों पाँखें जलती हैं।

ये छुरे नहीं चलते, छिदती
जाती स्वदेश की छाती है,
लाठी खाकर भारतमाता
बेहोश हुई-सी जाती है।

चाहो तो डालो मार इसे,
पर, याद रहे, पछताओगे ;
जो आज लड़ाई हार गये,
फिर जीत न उसको पाओगे।

आदर्श अगर जल खाक हुआ,
कुछ भी न शेष रह पायेगा ;
मन्दिर के पास पहुँच कर भी
भारत खाली फिर जायेगा।

❀ ❀ ❀

हिलती है पाँवों-तले धरा ?
तो थामो, इसको अचल करो,
आकाश नाचता है सम्मुख ?
दृग में त्राटक-साधना भरो।

साँसों से बाँधो महाकाश,
मारुतपति नाम तुम्हारा है ;
नाचती मही को थिर करना
योगेश्वर ! काम तुम्हारा है।

धीरज धर! धीरज, महासिन्धु!
मत वेग खोल अपने बल का;
सह कौन सकेगा तेज, कहीं
विस्फोट हुआ बड़वानल का?

नगराज! कहीं तू डोल उठा,
फिर कौन अचल रह पायेगा?
धरती ही नहीं, खमण्डल भी
यह दो टुकड़े हो जायेगा।

सच है, गिरती जब गाज कठिन,
भूधर का उर फट जाता है,
जब चक्र घूमता है, मस्तक
शिशुपालों का कट जाता है।

सच है, जल उठते महल,
बिखेरे जब अंगारे जाते हैं;
औ मच कर रहता कुरुक्षेत्र
जब चीर उतारे जाते हैं।

सम्मुख है राजसभा लेकिन,
प्रस्ताव अभी तक बाकी है;
केशव को लगना, स्यात्,
आखिरी घाव अभी तक बाकी है।

आदर्श दुहाई देता है,
धीरज की बाँध नहीं टूटे।
आदर्श दुहाई देता है,
धन्वा से बाण नहीं छूटे।

सपने जल जायें,
सावधान ! ऐसी कोई भी बात न हो,
आदर्श दुहाई देता है,
उसके तन पर आघात न हो।

आदर्श माँगता सुधा आज,
आदर्श माँगता शीतल जल ;
ओ एक राष्ट्र के विश्वासी,
आदर्श माँगता भाव अचल।

आदर्श माँगता मुक्त पन्थ,
वह कोलाहल में जायेगा ;
लपटों से घिरे महल में से
जीवित स्वदेश को लायेगा।

विश्वासी बन तुम खड़े रहो,
कंचन की आज समीक्षा है ;
यह और किसी की नहीं, स्वयं
सीता की अग्नि-परीक्षा है।

दुनिया भी देखे अन्धकार की
कैसी फौज उमड़ती है!
औ एक अकेली किरण
व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है। *

१९४६]

* नोआखाली और बिहार के दंगे के समय लिखित

अतीत के द्वार पर

'जय हो', खोलो अजिर-द्वार
मेरे अतीत ओ अभिमानी !
बाहर खड़ी लिये नीराजन
कब से भावों की रानी !

बहुत बार भग्नावशेष पर
अक्षत-फूल बिखेर चुकी;
खँडहर में आरती जलाकर
रो—रो तुमको टेर चुकी।

वर्तमान का आज निमंत्रण,
देह धरो, आगे आओ ;
ग्रहण करो आकार देवता !
यह पूजा-प्रसाद पाओ।

शिला नहीं, चैतन्य मूर्त्ति पर
तिलक लगाने मैं आई ;
वर्तमान की समर - दूतिका,
तुम्हें जगाने मैं आई ।

कह दो निज अस्तमित विभा से,
तम का हृदय विदीर्ण करे ;
होकर उदित पुनः वसुधा पर
स्वर्ण - मरीचि प्रकीर्ण करे ।

अंकित है इतिहास पत्थरों—
पर जिनके अभियानों का,
चरण-चरण पर चिह्न यहाँ
मिलता जिनके वलिदानों का ;

गुंजित जिनके विजय - नाद से
हवा आज भी बोल रही ;
जिनके पदाघात से कम्पित
धरा अभी तक डोल रही ।

कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल में सोती है ;
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी विधवा—सी रोती है ।

रथ है रिक्त, करच्युत धनु है,
छिन्न मुकुट शोभाशाली,
खँडहर में क्या धरा, पड़े,
करते वे जिसकी रखवाली ?

जीवित है इतिहास किसी—विधि
वीर मगध बलशाली का.
केवल नाम शेष है उनके
नालन्दा, वैशाली का।

हिमगह्वर में किसी सिंह का
आज मन्द्र हुङ्कार नहीं,
सीमा पर बजनेवाले धौंसों
की अब धुधकार नहीं !

बुझी शौर्य्य की शिखा, हाय,
वह गौरव-ज्योति मलीन हुई,
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
वसुधा वीर - विहीन हुई।

बुझा धर्म का दीप, भुवन में
छाया तिमिर अहंकारी ;
हमीं नहीं खोजते, खोजती
उसे आज दुनिया सारी।

वह प्रदीप, जिसकी लौ रण में
पत्थर को पिघलाती है;
लाल कीच के कमल, विजय, को
जो पद से ठुकराती है।

आज कठिन नरमेध ! सभ्यता
ने थे क्या विषधर पाले !
लाल कीच ही नहीं, रुधिर के
दौड़ रहे हैं नद - नाले।

अब भी कभी लहू में डूबी
विजय विहँसती आयेगी,
किस अशोक की आँख किन्तु,
रो कर उसको नहलायेगी ?

कहाँ अर्द्ध-नारीश वीर वे
अनल और मधु के मिश्रण ?
जिनमें नर का तेज प्रबल था,
भीतर था नारी का मन ?

एक नयन संजीवन जिनका,
एक नयन था हालाहल,
जितना कठिन खड्ग था कर में,
उतना ही अन्तर कोमल।

स्थूल देह की विजय आज,
है जग का सफल बहिर्जीवन ;
क्षीण किन्तु, आलोक प्राण का,
क्षीण किन्तु, मानव का मन।

अर्चा सकल बुद्धि ने पायी,
हृदय मनुज का भूखा है ;
बढ़ी सभ्यता बहुत, किन्तु,
अन्तःसर अब तक सूखा है।

यंत्र-रचित नर के पुतले का
बढ़ा ज्ञान दिन - दिन दूना ;
एक फूल के बिना किन्तु, है—
हृदय - देश उसका सूना।

संहारों में अचल खड़ा है
धीर, वीर मानव ज्ञानी ;
सूखा अन्तःसलिल, आँख में
आये क्या उसकी पानी ?

सब कुछ मिला नये मानव को,
एक न मिला हृदय कातर ;
जिसे तोड़ दे अनायास ही
करुणा की हलकी ठोकर।

'जय हो', यंत्र-पुरुष को दर्पण
एक फूटनेवाला दो ;
हृदयहीन के लिए ठेस पर
हृदय टूटनेवाला दो ।

दो विषाद, निर्लज्ज मनुज यह
ग्लानिमग्न होना सीखे ;
विजय-मुकुट रुधिराक्त पहनकर
हँसे नहीं, रोना सीखे ।

दावानल-सा जला रहा
नरको अपना ही बुद्धि-अनल ;
भरो हृदय का शून्य सरोवर,
दो शीतल करुणा का जल ।

जग में भीषण अन्धकार है,
जगो, तिमिर - नाशक, जागो,
जगो मंत्र-द्रष्टा, जगती के
गौरव, गुरु, शासक, जागो ।

गरिमा, ज्ञान, तेज, तप, कितने
सम्बल हाय, गये खोये ;
साक्षी है इतिहास, वीर, तुम
कितना बल लेकर सोये ।

'जय हो' खोलो द्वार, अमृत दो,
हे जग के पहले दानी !
यह कोलाहल शमित करेगी
किसी बुद्ध की ही बानी ।

कलिंग-विजय

(१)

युद्ध की इति हो गई ; रण-भू श्रमित, सुनसान ;
गिरिशिखर पर थम गया है डूबता दिनमान—

देखते यम का भयावह कृत्य,
अन्ध मानव की नियति का नृत्य;

सोचते, इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम ?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम ?

युद्ध का परिणाम ?
युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास !
युद्ध का परिणाम सत्यानाश !
रुण्ड-मुण्ड-लुठन, निर्हिंसन, मीच !
युद्ध का परिणाम लोहित कीच !

हो चुका जो कुछ रहा भवितव्य,
यह नहीं नर के लिए कुछ नव्य ;
भूमि का प्राचीन यह अभिशाप,
तू गगनचारी न कर संताप।
मौन कब के हो चुके रण-तूर्य्य,
डूब जा तू भी कहीं ओ सूर्य्य !

छा गया तम, आ गये तारे तिमिर को चीर,
आ गया विधु ; किन्तु, क्यों आकृति किये गंभीर ?
और उस घन-खण्ड ने विधु को लिया क्यों ढाँक ?
फिर गया शशि क्या लजा कर पाप नर के झाँक ?
चाँदनी घन में मिली है छा रही सब ओर,
साँझ को ही दीखता ज्यों हो गया हो भोर।

मौन हैं चारों दिशाएँ, स्तब्ध है आकाश,
श्रव्य जो भी शब्द वे उठते मरण के पास।

(२)

शब्द ? यानी घायलों की आह,
घाव के मारे हुओं की क्षीण, करुण कराह,
बह रहा जिसका लहू उसकी करुण चीत्कार,
श्वान जिसको नोचते उसकी अधीर पुकार।
"घूँट भर पानी, जरा पानी" रटन, फिर मौन ;
घूँट भर पानी अमृत है, आज देगा कौन ?

बोलते यम के सहोदर श्वान,
बोलते जम्बुक कृतान्त-समान।

मृत्यु-गढ़ पर है खड़ा जयकेतु रेखाकार,
हो गई हो शान्ति मरघट की यथा साकार।
चल रहा ध्वज के हृदय में द्वन्द्व,
वैजयन्ती है झुकी निस्पन्द।

जा चुके सब लोग फिर आवास,
हतमना कुछ और कुछ सोल्लास।
अंक में घायल, मृतक, निश्चेत,
शूर-वीरों को लिटाये रह गया रण-खेत।

और इस सुनसान में निःसंग,
खोजते सच्छान्ति का परिष्वंग,
मूर्त्तिमय परिताप - से विभ्राट,
हैं खड़े केवल मगध - सम्राट।

टेक सिर ध्वज का लिये अवलम्ब,
आँख में झर - झर बहाते अम्बु।
भूल कर भूपाल का अहमित्व,
शीश पर वध का लिये दायित्व।

जा चुकी है दृष्टि जग के पार,
आ रहा सम्मुख नया संसार।
चीर वक्षोदेश भीतर पैठ,
देवता कोई हृदय में बैठ,
दे रहा है सत्य का संवाद,
सुन रहे सम्राट कोई नाद।

"मन्द मानव ! वासना के भृत्य !
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य ।
यह धरा तेरी न थी उपनीत,
शत्रु की त्यों ही नहीं थी क्रीत ।

सृष्टि सारी एक प्रभु का राज,
स्वत्व है सब का प्रजा के व्याज ।
मान कर प्रति जीव का अधिकार,
ढो रही धरणी सभी का भार ।

एक ही स्तन का पयस कर पान,
जी रहे बलहीन औ बलवान ।
देखने को बिम्ब - रूप अनेक,
किन्तु, दृश्याधार दर्पण एक ।

मुक्ति तो बिकती यहाँ बेदाम,
साँस से चलता मनुज का काम ।
मृत्तिका हो याकि दीपित स्वर्ण,
साँस पा कर मूर्त्ति होती पूर्ण ।

राज या बल पा अमित अनमोल,
साँस का बढ़ता न किंचित् मोल ।
दीनता, दौर्बल्य या अपमान,
त्यों घटा सकते न इसका मान ।

तू हुआ सब कुछ, मनुज लेकिन, रहा अब क्या न ?
जो नहीं कुछ बन सका, वह भी मनुज है, मान ।

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर !
हाय रे दारुण ! मुकुटधर भूप लोलुप, चोर ।
साज कर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान !
खड्ग-बल का ले मृषा आधार,
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार ।

चरण से प्रभु के नियम को चाप,
तू बना है चाहता भगवान अपना आप ।
भौं उठा पायें न तेरे सामने बलहीन,
इसलिए ही तो प्रलय यह ! हाय रे हिय-हीन !
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिये तुझको मनुज का खून ।

क्रूरता का साथ ले आख्यान,
जा चुके हैं, जा रहे हैं प्राण ।
स्वर्ग में है आज हाहाकार,
चाहता उजड़ा बसा संसार ।

भूमि का मानी महीप अशोक
बाँटता फिरता चतुर्दिक शोक ।
"बाँटता सुतशोक औ वैधव्य,
बाँटता पशु को मनुज का क्रव्य ।

लूटता है गोदियों के लाल,
लूटता सिन्दूर - सज्जित भाल ।
यह मनुज-तन में किसी शक्रारिका अवतार,
लूट लेता है नगर की सिद्धि, सुख, शृङ्गार ।
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिए उसको मनुज का खून ।"

(३)

आत्म-दंशन की व्यथा, परिताप, पश्चात्ताप,
डँस रहे सब मिल, उठा है भूप का मन काँप ।

स्तब्धता को भेद बारम्बार,
आ रहा है क्षीण हाहाकार ।

यह हृदय - द्रावक, करुण वैधव्य की चीत्कार !
यह किसी बूढ़े पिता की भग्न, आर्त्त पुकार !
यह किसी मृतवत्सला की आह !
आ रही करती हुई दिवदाह !

आ रही है दुर्बलों की हाय,
सूझता है त्राण का नृप को न एक उपाय :
आह की सेना अजेय विराट,
भाग जा, छिप जा कहीं सम्राट ।

खड्ग से होगी नहीं यह भीत,
तू कभी इसको न सकता जीत ।

सामने मन के विरूपाकार,
है खड़ा उल्लंग हो संहार।
षोडशी शुक्लाम्बराएँ आभरण कर दूर,
धूल मल कर धो रही हैं माँग का सिन्दूर।
वीर-बेटों की चिताएँ देख ज्वलित समक्ष,
रो रहीं माँएँ हजारों पीटती सिर-वक्ष।

हैं खुले नृप के हृदय के कान ;
हैं खुले मन के नयन अम्लान।
सुन रहे हैं विह्वला की आह,
देखते हैं स्पष्ट शव का दाह।
सुन रहे हैं भूप हो कर व्यग्र,
रो रहा कैसे कलिंग समग्र !

रो रही हैं वे कि जिनका जल गया श्रृङ्गार ;
रो रहीं जिनका गया मिट फूलता संसार ;
जल गई उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार ;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार।

चूड़ियाँ दो एक की प्रतिगृह हुई हैं चूर,
पुछ गया प्रति गेह से दो एक का सिन्दूर।
बुझ गया प्रतिगृह किसी की आँख का आलोक,
इस महा विध्वंस का दायी महीप अशोक।

ध्यान में थे हो रहे आघात,
कान ने सुनली मगर यह बात।
नाम सुन अपना उसाँसें खींच,
नाक, भौं, आँखें घृणा से मींच,

इस तरह बोले महीपति खिन्न
आप से ज्यों हो गये हों भिन्न :—
"विश्व में पापी महीप अशोक,
छीनता है आँख का आलोक।"

देह के दुर्द्धर्ष पशु को मार,
ले चुके हैं देवता अवतार।
निन्द्य लगते पूर्वकृत सब काम,
सुन न सकते आज वे निज नाम।

अश्रु में घुल बह गया कुत्सित, विहीन, विवर्ण,
रह गया है शेष केवल तप्त, निर्मल स्वर्ण।
हूक-सी आकर गई कोई हृदय को तोड़,
ठेस से विष-भाण्ड को कोई गई है फोड़।

बह गया है अश्रु बन कर कालकूट ज्वलन्त,
जा रहा भरता दया के दूध से वेशन्त।

दूध अन्तर का सरल, अम्लान,
खिल रहा मुख-देश पर द्युतिमान।
किन्तु, हैं अब भी झनत्कृत तार,
बोलते हैं भूप बारम्बार—
"हाय रे गर्हित विजय-मद ऊन,
क्या किया मैंने! बहाया आदमी का खून!"

(४)

खुल गई है शुभ्र मन की आँख,
खुल गई है चेतना की पाँख ;
प्राण की अन्तःशिला पर आज पहली बार,
जाग कर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार ।

आँसुओं में गल रहे हैं प्राण,
खिल रहा मन में कमल अम्लान ।

गिर गया हतबुद्धि-सा थक कर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय ।
अर्धनारीश्वर अशोक महीप ;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप ।

पायलों की सुन मृदुल झनकार,
गिर गई कर से स्वयं तलवार ।
वज्र का उर हो गया दो टूक,
जग उठी कोई हृदय में हूक ।

लाल किरणों में यथा हँसता तटी का देश,
एक कोमल ज्ञान से त्यों खिल उठा हृद्देश ।
खोल दृग, चारों तरफ अवलोक,
सिर झुका कहने लगे मानी महीप अशोकः—

"हे नियन्ता विश्व के कोई अचिन्त्य, अमेय !
ईश या जगदीश कोई शक्ति हे अज्ञेय !

हों नहीं क्षन्तव्य जो मेरे विगर्हित पाप,
दो वचन अक्षय रहे यह ग्लानि, यह परिताप ।

प्राण में बल दो, रखूँ निज को सदैव सँभाल,
देव, गर्वस्फीत हो ऊँचा उठे मत भाल ।

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार ।

मिट नहीं जाए किसी का चरण-चिह्न पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग, संभीत ।

हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म्म का गूँजे जगत में घोष ।

बुद्धकी जय ! धर्म्म की जय ! संघ का जय-गान,
आ बसें मुझमें तथागत मारजित् भगवान ।"

देवता को सौंप कर सर्वस्व,
भूप मन ही मन गये हो निःस्व।

(४)

और तब उन्मादिनी सोल्लास,
रक्त पर बहती विजय आई वरण को पास।
संग लेकर ब्याह का उपहार,
रक्त-कर्दम के कमल का हार।

पर, डिगे तिल-भर न वीर महीप;
थी जला करुणा चुकी तब तक विजय का दीप।

१६४१]

प्रतिकूल

(१)

है बीत रहा विपरीत ग्रहों का लग्न-याम ;
मेरे उन्मादक भाव, आज तुम लो विराम।

उन्नत सिर पर जब तक हो शम्पा का प्रहार,
सोओ तब तक जाज्वल्यमान मेरे विचार।

तब भी आशा मत मरे, करे पीयूष-पान,
वह जिये सोच, मेरा प्रयास कितना महान।

द्रुम अचल, पवन ले जाय उड़ा पत्ती-पराग ;
बुझती है केवल शिखा, कभी बुझती न आग।

मेरे मन हो आश्वस्त सोच कर एक बात,
इच्छा मैं भी उसकी, जिसका यह शस्त्र-पात।

(२)

साखी है सारा व्योम, अयाचित मिले गान ;
मैंने न इष्ट से कहा, करो कवि-सत्व दान।

उसकी इच्छा थी, उठा गूँज गर्जन गभीर,
मैं धूमकेतु-सा उगा तिमिर का हृदय चीर।

मृत्तिका-तिलक ले कर प्रभु का आदेश मान,
मैंने अम्बर को छोड़ धरा का किया गान।

मानव की पूजा की मैंने सुर के समक्ष,
नर की महिमा का लिखा पृष्ठ नूतन, वलक्ष।

हतपुण्य-अनघ, जन पतित-पूत, लघु-महीयान,
मानव कह अन्तर खोल मिला सबसे समान।

ममता के शत प्रत्यूह देख अतिशय अधीर,
सच है, मैंने छोड़े अनेक विष-बुझे तीर।

वे तीर कि जिनसे विद्ध दिशाएँ उठीं जाग,
भू की छाती में लगी खौलने सुप्त आग।

मैं ने न सुयश की भीख माँगते किया गान,
थी चाह कि मेरा स्वप्न कभी हो मूर्त्तिमान।

स्वर का पथ पा चल पड़ा स्वयं मन का प्रवाह,
चुन ली जीवन ने स्वयं गीत की प्रगुण राह।

(३)

इच्छा प्रभु की मुझ में आ बोली बार-बार,
दिव को कंचन-सा गला करो भू का सिंगार।

वाणी पर, अब तक विफल मुझे दे रही खेद,
टकरा कर भी सकती न वज्र का हृदय भेद।

जिनके हित मैंने कण्ठ फाड़ कर किया नाद,
माधुरी जली मेरी, न जला उनका प्रमाद।

आखिर क्लीवों को देख धीरता गई छूट,
धरती पर मैंने छिड़क दिया विष कालकूट।

पर, सुन कर भी जग ने न सुनी प्रभु की पुकार,
समझा कि बोलता था मेरा कटु अहंकार।

हा, अहंकार ! ब्रह्माण्ड-बीच अणु एक खर्व,
ऐसा क्या तत्व स्वकीय जिसे ले करूँ गर्व ?

मैं रिक्त-हृदय बंसी, फूँकें तो उठे हूक,
दें अधर छुड़ा देवता कहीं तो रहूँ मूक।

(४)

जानें करना होगा कब तक यह तप कराल !
चलना होगा कब तक दुरध्व पर हृदय बाल !

बन सेतु पड़ा रहना होगा छू युग्म देश,
कर सके इष्ट जिस पर चढ़ नवयुग में प्रवेश !

(५)

सुन रे मन, अस्फुट-सा कहता क्या महाकाश ?
जलता है कोई द्रव्य, तभी खिलता प्रकाश।

तप से जीवन का जन्म, इसे तप रहा पाल,
है टिकी तपस्या पर विधि की रचना विशाल।

तप से प्रदीप्त मार्तण्ड, चन्द्र शीतल मनोज्ञ,
तप से स्थित उडु नभ में ले आसन यथा-योग्य।

सागर में तप परिणाह, सरित में खर प्रवाह,
घन में जीवन, गिरि में नूतन प्रस्रवण-चाह।

द्रुम के जीवन में सुमन, सुमन में तप सुगन्ध ;
तृण में हरीतिमा, व्याप्ति महानभ में विबन्ध।

नर में तप पौरुष-शिखा, शौर्य का हेम-हास,
नारी में अर्जित पुरातीन तप का प्रकाश।

जग के विकास-क्रम में जो जितना महीयान,
है उसका तप उतना चिरायु, उतना महान।

मानव का पद सर्वोच्च, अतः, तप भी कठोर,
अपनी पीड़ा का कभी उसे मिलता न छोर।

रे पथिक ! मुदितमन झेल, मिलें जो अन्तराय,
जलने दे मन का बोझ, नहीं कोई उपाय।

१९४१]

आग की भीख

(१)

धुँधली हुईं दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है;
मुँह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
दाता, पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे;
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।

(२)

बेचैन हैं हवाएँ, सब ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है?
मँझधार है, भँवर है या पास है किनारा?
यह नाश आ रहा या सौभाग्य का सितारा?
आकाश पर अनल से लिख दे अदृष्ट मेरा,
भगवान, इस तरी को भरमा न दे अँधेरा।
तम-वेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ।
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।

(३)

आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बल-पुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है;
अग्निस्फुलिंग रजका, बुझ, ढेर हो रहा है,
है रो रही जवानी, अन्धेर हो रहा है।
निर्वाक है हिमालय, गंगा डरी हुई है।
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्य-नाद भीषण, विकराल माँगता हूँ।
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।

(४)

मनकी बँधी उमंगें असहाय जल रही हैं,
अरमान-आरजू की, लाशें निकल रही हैं।
भींगी-खुली पलों में रातें गुजारते हैं,
सोती वसुन्धरा जब तुझको पुकारते हैं।
इनके लिए कहीं से निर्भीक तेज ला दे,
पिघले हुए अनल का इनको अमृत पिला दे,
उन्माद, बेकली का उत्थान माँगता हूँ,
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।

(५)

आँसू-भरे दृगों में चिनगारियाँ सजा दे,
मेरे श्मशान में आ शृंगी जरा बजा दे;
फिर एक तीर सीनों के आर-पार कर दे,
हिमशीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे।
आमर्ष को जगानेवाली शिखा नई दे,
अनुभूतियाँ हृदय में दाता, अनलमयी दे।
विष का सदा लहू में संचार माँगता हूँ,
बेचैन जिन्दगी का मैं प्यार माँगता हूँ।

(६)

ठहरी हुई तरी को ठोकर लगा चला दे,
जो राह हो हमारी उस पर दिया जला दे।
गति में प्रभंजनों का आवेग फिर सबल दे।
इस जाँच की घड़ी में निष्ठा कड़ी, अचल दे।
हम दे चुके लहू हैं, तू देवता विभा दे,
अपने अनल-विशिख से आकाश जगमगा दे।
प्यारे स्वदेश के हित वरदान माँगता हूँ,
तेरी दया विपद में भगवान, माँगता हूँ।

१९४३]

दिल्ली और मॉस्को

(१)

जय विधायिके अमर क्रांति की ! अरुण देश की रानी !
रक्त-कुसुम-धारिणि ! जगतारिणि ! जय नव शिवे ! भवानी !

अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारोंवाली, जय हो,
दलित, बुभुक्षु, विषण्ण मनुज की,
शिखा रुद्र मतवाली, जय हो।

जगज्ज्योति, जय जय, भविष्य की राह दिखानेवाली,
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली।
भरे प्राण में आग, भयानक विप्लव का मद ढाले,
देश-देश में घूम रहे तेरे सैनिक मतवाले।

नगर-नगर जल रहीं भट्ठियाँ,
घर-घर सुलग रही चिनगारी ;
यह आयोजन जगद्दहन का,
यह जल उठने की तैयारी ;

देश-देश में शिखा क्षोभ की
उमड़-घुमड़ कर बोल रही है;
लरज रहीं चोटियाँ शैल की,
धरती क्षण-क्षण डोल रही है।

ये फूटे अंगार, कढ़े अंबर में लाल सितारे,
फटी भूमि, वे बढ़े ज्योति के लाल-लाल फव्वारे।
बंध, विषमता के विरुद्ध सारा संसार उठा है,
अपना बल पहचान, लहर कर पारावार उठा है।
छिन्न-भिन्न हो रहीं मनुजता के बंधन की कड़ियाँ,
देश-देश में बरस रहीं आजादी की फुलझड़ियाँ।

(२)

एक देश है जहाँ विषमता
में अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतंत्रता
में हो रहा साम्य का कामी।

भ्रमित ज्ञान में जहाँ जाँच हो—
रही दीप्त स्वातंत्र्य-समर की,
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को,
बिसार सुधि अपने घर की।

जहाँ मृषा संबंध विश्व-मानवता
से नर जोड़ रहा है,
जन्मभूमि का भाग्य जगत की
नीति-शिला पर फोड़ रहा है।

चिल्लाते हैं "विश्व, विश्व" कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धिभीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मासको के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

(३)

दिल्ली, आह, कलंक देश की,
दिल्ली, आह, ग्लानि की भाषा,
दिल्ली, आह, मरण पौरुष का,
दिल्ली, छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

विवश देश की छाती पर ठोकर की एक निशानी,
दिल्ली, पराधीन भारत की जलती हुई कहानी।
मरे हुओं की ग्लानि, जीवितों को रण की ललकार,
दिल्ली, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार।

बरबस लगी देश के होठों
से यह भरी जहर की प्याली,
यह नागिनी स्वदेश-हृदय पर
गरल उँड़ेल लोटनेवाली।

प्रश्नचिह्न भारत का, भारत के बल की पहचान,
दिल्ली राजपुरी भारत की, भारत का अपमान।

(४)

ओ समता के वीर सिपाही,
कहो, सामने कौन अड़ी है ?
बल से दिए पहाड़ देश की
छाती पर यह कौन पड़ी है ?

यह है परतंत्रता देश की,
रुधिर देश का पीनेवाली ;
मानवता कहता तू जिसको
उसे चबाकर जीनेवाली ।

यह पहाड़ के नीचे पिसता
हुआ मनुज क्या प्रेय नहीं है ?
इसका मुक्ति-प्रयास स्वयं ही
क्या, उज्ज्वलतम श्रेय नहीं है ?

यह जो कटे वीर-सुत माँ के,
यह जो बही रुधिर की धारा,
यह जो डोली भूमि देश की,
यह जो काँप गया नभ सारा ;

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश ;
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास ;
कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उठी मिलित, दहाड़ ;
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़ ।

सो क्या था विस्फोट अनर्गल ?
बाल-कुतूहल ? नर-प्रमाद था ?
निष्पेषित मानवता का यह
क्या न भयंकर तूर्य-नाद था ?

इस उद्वेलन—बीच प्रलय का
था पूरित उल्लास नहीं क्या ?
लाल भवानी पहुँच गई है
भरत-भूमि के पास नहीं क्या ?

फूट पड़ी है क्या न प्राण में नये तेज की धारा ?
गिरने को हो रही छोड़कर नींव नहीं क्या कारा ?
जनपति के पद में जबतक है बँधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?

(५)

दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गंगा का पानी;
प्राचीरों में गरज रही है
जंजीरों में कसी जवानी।

यह प्रवाह निर्भीक तेज का,
यह अजस्र यौवन की धारा,
अनवरुद्ध यह शिखा यज्ञ की,
यह दुर्जय अभियान हमारा।

यह सिद्धाग्नि प्रबुद्ध देश की जड़ता हरनेवाली,
जन-जन के मन में बन पौरुष-शिखा विहरनेवाली।
अर्पित करो समिध, आओ, हे समता के अभियानी!
इसी कुंड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।

(६)

हाँ, भारत की लाल भवानी,
जवा-कुसुम के हारोंवाली,
शिवा, रक्त-रोहित-वसना,
कबरी में लाल सितारोंवाली।

कर में लिए त्रिशूल, कमंडलु,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता।

भरत-भूमि की मिट्टी से शृंगार सजानेवाली,
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व-शांति का शंख बजानेवाली।

(७)

दिल्ली का नभ दहक उठा, यह—
श्वास उसी कल्याणी का है।
चमक रही जो लपट चतुर्दिक्,
अंचल लाल भवानी का है।

खौल रहे जो भाव वह्निमय,
ये हैं आशीर्वाद उसीके,
'जय भारत' के तुमुल रोर में
गुंजित संगर-नाद उसीके ।

दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र, धन-बल है ।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभियानी ।

१९४५]

सरहद के पार से

जन्मभूमि से दूर, किसी वन में या सरित-किनारे,
हम तो लो, सो रहे लगाते आजादी के नारे।

ज्ञात नहीं किनको कितने दुख में हम छोड़ चले हैं,
किस असहाय दशा में किनसे नाता तोड़ चले हैं ?

जो रोयें, तुम उन्हें सुनाना ज्वालामयी कहानी,
स्यात्, सुखा दे यह ज्वाला उनकी आँखों का पानी।

आये थे हम यहाँ देश-माता का मान बढ़ाने,
स्वतन्त्रता के महा यज्ञ में अपना हविस् चढ़ाने।

सो पूर्णाहुति हुई; देवता की सुन अन्य पुकार,
मिट्टी की गोदी तज हम चलने को हैं तैयार।

माँ का आशीर्वाद, प्रिया का प्रेम लिये जाते हैं,
केवल है सन्देश एक जो तुम्हें दिये जाते हैं।

यह झण्डा, जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है,
छिन न जाय, इस भय से अब भी कस कर पकड़ रही है;

थामो इसे ; शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा,
चाहे जो हो जाय, मगर, यह झण्डा नहीं झुकेगा।

इस झण्डे में शान चमकती है मरने वालों की,
भीमकाय पर्वत से मुट्ठीभर लड़नेवालों की।

इसके नीचे ध्वनित हुआ 'आजाद हिन्द' का नारा,
बही देश भर के लोहू की यहाँ एक हो धारा।

जिस दिन हो तिमिरान्त, विजय की किरणें जब लहरायें,
अलग-अलग बहनेवाली ये सरिताएँ मिल जाएँ।

संगम पर गाड़ना ध्वजा यह, इसका मान बढ़ाना,
और याद में हम-जैसों की भी दो फूल चढ़ाना।

[१९४५]

फलेगी डालों में तलवार

(१)

धनी दे रहे सकल सर्वस्व,
तुम्हें इतिहास दे रहा मान ;
सहस्रों बलशाली शार्दूल
चरण पर चढ़ा रहे हैं प्राण ।

दौड़ती हुई तुम्हारी ओर
जा रहीं नदियाँ विकल, अधीर ।
करोड़ों आँखें पगली हुईं,
ध्यान में झलक उठी तस्वीर ।

पटल जैसे-जैसे उठ रहा,
फैलता जाता है भूडोल ।

(२)

हिमालय रजत-कोष ले खड़ा,
हिन्द-सागर ले खड़ा प्रवाल,
देश के दरवाजे पर रोज
खड़ी होती ऊषा ले माल।

कि जानें तुन आओ किस रोज
बजाते नूतन रुद्र - विषाण,
किरण के रथ पर हो आसीन
लिये मुट्ठी में स्वर्ण-विहान।

स्वर्ग जो हाथों को है दूर,
खेलता उससे भी मन लुब्ध।

(३)

धनी देते जिसको सर्वस्व,
चढ़ाते बली जिसे निज प्राण,
उसी का ले कर पावन नाम
कलम बोती है अपने गान।

गान, जिनके भीतर संतप्त
जाति का जलता है आकाश ;
उबलते गरल, द्रोह, प्रतिशोध,
दर्प से बलता है विश्वास।

देश की मिट्टी का असि-वृक्ष,
गान-तरु होगा जब तैयार,
खिलेंगे अंगारों के फूल,
फलेगी डालों में तलवार।

चटकती चिनगारी के फूल,
सजीले वृन्तों के शृंगार,
विवशता के बिषजल में बुझी,
गीत की, आँसू की तलवार।

१६४५]

जवानी का झंडा

घटा फाड़ कर जगमगाता हुआ
आ गया देख, ज्वाला का बान ;
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(१)

सहम करके चुप हो गये थे समुंदर
अभी सुन के तेरी दहाड़,
जमीं हिल रही थी, जहाँ हिल रहा था,
अभी हिल रहे थे पहाड़;
अभी क्या हुआ ? किसके जादू ने आकर के
शेरों की सी दी जबान ?
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(२)

खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुए लोग
उठने लगे ले मशाल,†
खड़ा हो कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल !
खड़ा हो कि फिर फूँक विष की लगा
धूर्जटी ने बजाया विषान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(३)

गरज कर बता सबको, मारे किसीके
मरेगा नहीं हिंद - देश,
लहू की नदी तैर कर आ गया है,
कहीं से कहीं हिंद-देश !
लड़ाई के मैदान में चल रहे लेके
हम उसका उड़ता निशान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

† यूनान के युद्धोत्तर विद्रोह के समय रचित

(४)

अहा ! जगमगाने लगी रात की
माँग में रौशनी की लकीर,
अहा ! फूल हँसने लगे, सामने देख,
उड़ने लगा वह अबीर !
अहा ! यह उषा हो के उड़ता चला
आ रहा देवता का विमान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

१९४४]

जवानियाँ

नये सुरों में शिंजिनी बजा रहीं जवानियाँ,
लहू में तैर-तैर के नहा रहीं जवानियाँ।

(१)

प्रभात-शृंग से घड़े सुवर्ण के उँड़ेलती;
रँगी हुई घटा में भानु को उछाल खेलती;
तुषार-जाल में सहस्र हेम-दीप बालती,
समुद्र की तरंग में हिरण्य-धूलि डालती;

सुनील चीर को सुवर्ण-बीच बोरती हुई,
धरा के ताल-ताल में उसे निचोड़ती हुई ;
उषा के हाथ की विभा लुटा रहीं जवानियाँ।

(२)

घनों के पार बैठ तार बीन के चढ़ा रहीं,
सुमन्द्र नाद में मलार विश्व को सुना रहीं ;
अभी कहीं लटें निचोड़ती, जमीन सींचती,
अभी बढ़ीं घटा में क्रुद्ध काल-खड्ग खींचती;

पड़ीं व' टूट देख लो, अजस्र वारिधार में,
चलीं व' बाढ़ बन, नहीं समा सकी कगार में।
रुकावटों को तोड़-फोड़ छा रहीं जवानियाँ।

(३)

हटो तमीचरो, कि हो चुकी समाप्त रात है,
कुहेलिका के पार जगमगा रहा प्रभात है।
लपेट में समेटता रुकावटों को तोड़ के,
प्रकाश का प्रवाह आ रहा दिगन्त फोड़ के।

विशीर्ण डालियाँ महीरुहों की टूटने लगीं ;
शमा की झालरें व' टक्करों से फूटने लगीं।
चढ़ी हुई प्रभंजनों प' आ रहीं जवानियाँ।

(४)

घटा को फाड़ व्योम-बीच गूँजती दहाड़ है,
जमीन डोलती है और डोलता पहाड़ है;
भुजंग दिग्गजों से, कूर्मराज त्रस्त कोल से,
धरा उछल-उछल के बात पूछती खगोल से।

कि क्या हुआ है सृष्टि को ? न एक अंग शान्त है;
प्रकोप रुद्र का ? कि कल्पनाश है, युगान्त है ?
जवानियों की धूम-सी मचा रहीं जवानियाँ।

(५)

समस्त सूर्य-लोक एक हाथ में लिये हुए,
दबा के एक पाँव चन्द्र-भाल पर दिये हुए,
खगोल में धुआँ बिखेरती प्रतप्त श्वास से,
भविष्य को पुकारती हुई प्रचण्ड हास से ;

उछाल देव-लोक को मही से तोलती हुई,
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुई;
विराट रूप विश्व को दिखा रहीं जवानियाँ।

(६)

मही प्रदीप्त है, दिशा-दिगन्त लाल-लाल है,
व' देख लो, जवानियों की जल रही मशाल है;
व' गिर रहे हैं आग में पहाड़ टूट-टूट के,
व' आसमाँ से आ रहे हैं रत्न छूट-छूट के;

उठो, उठो कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो,
बढ़ो, बढ़ो, कि आग में गुलामियों को झोंक दो,
परम्परा की होलिका जला रहीं जवानियाँ।

(७)

व' देख लो, खड़ी है कौन तोप के निशान पर;
व' देख लो, अड़ी है कौन जिन्दगी की आन पर;
व' कौन थी जो कूद के अभी गिरी है आग में?
लहू बहा? कि तेल आ गिरा नया चिराग में?

अहा, व अश्रु था कि प्रेम का दबा उफान था ?
हँसी थी या कि चित्र में सजीव, मौन गान था ?
अलभ्य भेंट काल को चढ़ा रहीं जवानियाँ।

(८)

अहा, कि एक रात चाँदनी-भरी सुहावनी,
अहा, कि एक बात प्रेम की बड़ी लुभावनी ;
अहा, कि एक याद दूब-सी मरुप्रदेश में,
अहा, कि एक चाँद जो छिपा विदग्ध वेश में ;

अहा, पुकार कर्म की ; अहा, री पीर मर्म की,
अहा, कि प्रीति भेंट जा चढ़ी कठोर धर्म की।
अहा, कि आँसुओं में मुस्कुरा रहीं जवानियाँ।

१६४४]

जयप्रकाश

झंझा सोई, तूफान रुका,
प्लावन जा रहा कगारों में;
जीवित है सब का तेज किन्तु,
अब भी तेरे हुंकारों में।

दो दिन पर्वत का मूल हिला,
फिर उतर सिन्धु का ज्वार गया,
पर, सौंप देश के हाथों में
वह एक नई तलवार गया।

'जय हो' भारत के नये खड्ग:
जय तरुण देश के सेनानी!
जय नई आग! जय नई ज्योति!
जय नये लक्ष्य के अभियानी!

स्वागत है, आओ, काल-सर्प के
फण पर चढ़ चलने वाले !
स्वागत है, आओ, हवनकुण्ड में
कूद स्वयं बलने वाले !

मुट्ठी में लिये भविष्य देश का,
वाणी में हुंकार लिये,
मन से उतार कर हाथों में
निज स्वप्नों का संसार लिये।

सेनानी ! करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है ;
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।

जो कुछ था निर्गुण, निराकार,
तुम उस द्युति के आकार हुए,
पी कर जो आग पचा डाली,
तुम स्वयं एक अंगार हुए।

साँसों का पा कर वेग देश की
हवा तवी-सी जाती है,
गंगा के पानी में देखो,
परछाईं आग लगाती है।

विप्लव ने उगला तुम्हें, महामणि
उगले ज्यों नागिन कोई ;
माता ने पाया तुम्हें यथा
मणि पाये बड़भागिन कोई ।

लौटे तुम रूपक बन स्वदेश की
आग - भरी कुरबानी का,
अब "जयप्रकाश" है नाम देश की
आतुर, हठी जवानी का ।

कहते हैं उसको "जयप्रकाश"
जो नहीं मरण से डरता है,
ज्वाला को बुझते देख, कुण्ड में
स्वयं कूद जो पड़ता है ।

है "जयप्रकाश" वह जो न कभी
सीमित रह सकता घेरे में,
अपनी मशाल जो जला
बाँटता फिरता ज्योति अँधेरे में ।

है "जयप्रकाश" वह जोकि पंगु का
चरण, मूक की भाषा है,
है "जयप्रकाश" वह टिकी हुई
जिस पर स्वदेश की आशा है ।

हाँ, "जयप्रकाश" है नाम समय की
करवट का, अँगड़ाई का ;
भूचाल, बवण्डर के ख्वाबों से
भरी हुई तरुणाई का।

है "जयप्रकाश" वह नाम जिसे
इतिहास समादर देता है,
बढ़ कर जिसके पद-चिह्नों को
उर पर अंकित कर लेता है।

ज्ञानी करते जिसको प्रणाम,
बलिदानी प्राण चढ़ाते हैं,
वाणी की आग बढ़ाने को
गायक जिसका गुण गाते हैं।

आते ही जिसका ध्यान,
दीप्त हो प्रतिभा पंख लगाती है,
कल्पना ज्वार से उद्वेलित
मानस-तट पर थर्राती है।

वह सुनो, भविष्य पुकार रहा,
"यह दलित देश का त्राता है,
स्वप्नों का द्रष्टा "जयप्रकाश"
भारत का भाग्य-विधाता है।"

१९४६]

राही और बाँसुरी

राही

सूखी लकड़ी! क्यों पड़ी राह में
यों रह-रह चिल्लाती है?
सुर से बरसा कर आग
राहियों का क्यों हृदय जलाती है!

यह दूब और वह चन्दन है;
यह घटा और वह पानी है?
ये कमल नहीं हैं, आँखें हैं;
वह बादल नहीं, जवानी है।

बरसाने की है चाह अगर
तो इनसे लेकर रस बरसा।
गाना हो तो मीठे सुर में,
जीवन का कोई दर्द सुना।

चाहिए सुधामय शीतल जल,
है थकी हुई दुनिया सारी।
यह आग-आग की चीख किसे,
लग सकती है कब तक प्यारी ?

प्यारी है आग अगर तुझको,
तो सुलगा उसे स्वयं जल जा।
सुर में हो शेष मिठास नहीं,
तो चुप रह या पथ से टल जा।

बाँसुरी

बजता है समय अधीर पथिक,
मैं नहीं सदाएँ देती हूँ।
हूँ पड़ी राह से अलग, भला
किस राही का क्या लेती हूँ ?

मैं भी न जान पाई अब तक,
क्यों था मेरा निर्माण हुआ।
सूखी लकड़ी के जीवन का
जानें सर्वस क्यों गान हुआ।

जानें किसकी दौलत हूँ मैं
अनजान, गाँठ से गिरी हुई।
जानें किसका हूँ ख्वाब,
न जानें किस्मत किसकी फिरी हुई।

तुलसी के पत्ते चले गये
पूजोपहार बन जाने को।
चन्दन के फूल गये जग में
अपना सौरभ फैलाने को।

जो दूब पड़ोसिन है मेरी
वह भी मन्दिर में जाती है।
पूजतीं कृषक-वधुएँ आकर,
मिट्टी भी आदर पाती है।

बस, एक अभागिन हूँ जिसका
कोई न कभी भी आता है।
तूफाँ से लेकर काल-सर्प तक
मुझको छेड़ बजाता है।

यह जहर नहीं मेरा राही,
बदनाम वृथा मैं होती हूँ।
दुनिया कहती है चीख
मगर, मैं सिसक-सिसक कर रोती हूँ।

हो बड़ी बात, कोई मेरी
ज्वाला में मुझे जला डाले।
या मुख जो आग उगलता है
आकर जड़ दे उस पर ताले।

दुनिया भर का संताप लिये
हर रोज हवाएँ आती हैं।
अधरों से मुझको लगा
व्यथा जानें किस-किस की गाती हैं।

मैं काल-सर्प से ग्रसित, कभी
कुछ अपना भेद न गा सकती,
दर्दीली तान सुना दुनिया
का मन न कभी बहला सकती।

दर्दीली तान, अहा, जिसमें
कुछ याद कभी की बजती है,
मीठे सपने मँडराते हैं,
मादक वेदना गरजती है।

धुँधली-सी है कुछ याद,
गाँव के पास कहीं कोई वन था;
दिन भर फूलों की छाँह-तले
खेलता एक मनमोहन था।

मैं उसके ओठों से लगकर
जानें किस धुन में गाती थी,
झोंपड़ियाँ दहक-दहक उठतीं,
गृहिणी पागल बन जाती थी।

मुँह का तृण मुँह में धरे विकल
पशु भी तन्मय रह जाते थे,
चंचल समीर के दूत कुंज में
जहाँ-तहाँ थम जाते थे।

रसमयी युवतियाँ रोती थीं,
आँखों से आँसू झरते थे,
सब के मुख पर बेचैन,
विकल कुछ भाव दिखाई पड़ते थे।

मानों, छाती को चीर हृदय
पल में कढ़ बाहर आयेगा,
मानों, फूलों की छाँह-तले
संसार अभी मिट जायेगा।

यह सुधा थी कि थी आग ?
भेद कोई न समझ यह पाती थी,
मैं और तेज होकर बजती
जब वह बेबस हो जाती थी।

उफ़ री ! अधीरता उस मुख की,
वह कहना उसका 'रुको, रुको,
चूमो, यह ज्वाला शमित करो
मोहन ! डाली से झुको, झुको।"

फूली कदम्ब की डाली पर
लेकिन, मेरा वह इठलाना,
उस मृगनयनी को बिंधी देख
पंचम में और पहुँच जाना।

मदभरी सुन्दरी ने आखिर
होकर अधीर दे शाप दिया—
"कलमुँही, अधर से लग कर भी
क्या तूने केवल जहर पिया ?

"जा, मासूमों को जला कभी
तू भी न स्वयं सुख पायेगी।
मोहन फूँकेंगे पांच—जन्य
तू आग-आग चिल्लायेगी।"

सच ही, मोहन ने शंख लिया,
मुझसे बोले, "जा, आग लगा,
कुत्सा की कुछ परवाह न कर,
तू जहाँ रहे ज्वाला सुलगा।"

तब से ही धूल-भरे पथ पर
मैं रोती हूँ, चिल्लाती हूँ।
चिनगारी मिलती जहाँ
गीत की कड़ी बनाकर गाती हूँ।

मैं बिकी समय के हाथ पथिक,
मुझ पर न रहा मेरा बस है।
है व्यर्थ पूछना, बंसी में
कोई मादक, मीठा रस है ?

जो मादक है, जो मीठा है,
जानें वह फिर कब आयेगा,
गीतों में भी बरसेगा या
सपनों में ही मिट जायेगा ?

जलती हूँ जैसे हृदय-बीच
सौरभ समेटकर कमल जले,
बलती हूँ जैसे छिपा स्नेह
अन्तर में कोई दीप बले।

तुम नहीं जानते पथिक. आग
यह कितनी मादक पीड़ा है।
भीतर पसीजता मोम
लपट की बाहर होती क्रीड़ा है।

मैं पीकर ज्वाला अमर हुई,
दिखला मत रस-उन्माद मुझे,
रौशनी लुटाती हूँ राही,
ललचा सकता ,अवसाद मुझे ?

हतभागे, यों मुँह फेर नहीं,
जो चीज आग में खिलती है,
धरती तो क्या ? जन्नत में भी
वह नहीं सभी को मिलती है।

मेरी पूँजी है आग, जिसे
जलना हो, बढ़े, निकट आये,
मैं दूँगी केवल दाह,
सुधा वह जाकर कोयल से पाये।

१९४६]

साथी

उसे भी देख, जो भीतर भरा अंगार है साथी।

(१)

सियाही देखता है, देखता है तू अँधेरे को,
किरण को घेर कर छाये हुए विकराल घेरे को।
उसे भी देख, जो इस बाहरी तम को बहा सकती,
दबी तेरे लहू में रौशनी की धार है साथी।

(२)

पड़ी थी नींव तेरी चाँद-सूरज के उजाले पर,
तपस्या पर, लहू पर, आग पर, तलवार-भाले पर।
डरे तू नाउमेदी से, कभी यह हो नहीं सकता।
कि तुझ में ज्योति का अक्षय भरा भण्डार है साथी।

(३)

बवण्डर चीखता लौटा, फिरा तूफान जाता है,
डराने के लिए तुझको नया भूडोल आता है ;
नया मैदान है राही, गरजना है नये बलसे ;
उठा, इस बार वह जो आखिरी हुंकार है साथी ।

(४)

विनय की रागिनी में बीन के ये तार बजते हैं,
रुदन बजता, सजग हो क्षोभ—हाहाकार बजते हैं ।
बजा, इस बार दीपक-राग कोई आखिरी सुर में ;
छिपा इस बीन में ही आगवाला तार है साथी ।

(५)

गरजते शेर आये, सामने फिर भेड़िये आये,
नखों को तेज, दाँतों को बहुत तीखा किये आये ।
मगर, परवाह क्या ? होजा खड़ा तू तान कर उसको,
छिपी जो हड्डियों में आग-सी तलवार है साथी ।

(६)

शिखर पर तू, न तेरी राह बाकी दाहिने-बायें,
खड़ी आगे दरी यह मौत-सी विकराल मुँह बाये,
कदम पीछे हटाया तो अभी ईमान जाता है,
उछल जा, कूद जा, पल में दरी यह पार है साथी ।

(७)

न रुकना है तुझे झण्डा उड़ा केवल पहाड़ों पर,
विजय पानी है तुझको चाँद-सूरज पर, सितारों पर।
वधू रहती जहाँ नरवीर की, तलवारवालों की,
जमीं वह इस जरा-से आसमाँ के पार है साथी।

(८)

भुजाओं पर मही का भार फूलों-सा उठाये जा,
कँपाये जा गगन को, इन्द्र का आसन हिलाये जा।
जहाँ में एक ही है रौशनी, वह नाम की तेरे,
जमीं को एक तेरी आग का आधार है साथी।

१९४६]

※ समाप्त ※

दिनकरजी का अभिनव खण्डकाव्य

कुरुक्षेत्र

डिमाइ साइज : सात सर्गः सुन्दर छपाईः सजिल्दः मूल्य केवल ३॥०)

कुछ अमूल्य सम्मतियाँ

राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त

कुरुक्षेत्र हिन्दी की गौरव-वृद्धि करेगा, इसमें सन्देह नहीं। चिन्तन कितना कवित्वमय किया जा सकता है, इसका विचित्र निदर्शन इसमें मिलता है।

भदन्त आनन्द कौशल्यायन, वर्धा

आपने एक दार्शनिक कवि के कौशल के साथ अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान को चित्रित किया है। मेरी सम्मति में कुरुक्षेत्र नये युग की नई गीता है। मुझे हर्ष है कि हमारी "राष्ट्र-भारती" में ऐसी चीज लिखी जा सकी।

आचार्य काका कालेलकर, वर्धा

हमारी प्राचीन सभ्यता को अद्यतन करने में इस काव्य की बड़ी सहायता होगी।

साहित्यवाचस्पति पण्डित बाबूरावविष्णु पराड़कर, काशी

जिस जाति में कुरुक्षेत्र-जैसे काव्य की रचना होती है उसका निकट का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल समझना चाहिए।

पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी "भारतीय आत्मा", खण्डवा

दिनकर ने, हर्ष है, वह लिखा जिसे पीढ़ियों को देते समय जीवन पर उतारने में उन्हें देर नहीं लगेगी। और अतीत से अस्तित्व तक संस्कृति का जो डोरा, पीढ़ियों की यादों की अँगुलियों से, रह-रहकर, कभी छूटता और

कभी टूटता आया है, वह पीढ़ियों की पकड़ में आये बिना नहीं रहेगा। दिनकर ने मैथिलीशरण के आदर्श को, प्रसाद के सपनों में, तुलसीदास की सरलता से लिखने का प्रयास किया है। "मुंशी" की भाषा में कहूँ तो वसन्त के पंछी ने समय को, शताब्दियों की भाषा में वाणी का दान दिया है।

विद्वद्वर आचार्य श्री नरेन्द्रदेवजी, लखनऊ

कविता में प्रवाह, भावों में स्पष्टता और विचारों में युग का प्रतिनिधित्व इस ग्रन्थ की विशेषता है। पिछले महायुद्ध से लेकर इस महायुद्ध की अवधि तक हमारे देश में जो राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति हुई है, उसका उत्कृष्ट भावनात्मक चित्र "कुरुक्षेत्र" में है। युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा की जो विवेचना इस काव्य में है, उसमें भारतीय संस्कृति और समाज-दर्शन का सुन्दर समन्वय है। जिस ओज से जीवित और सुसंस्कृत राष्ट्र मानव-समाज को सुन्दर और संपन्न बना सकता है, वह ओज, वह वीररस "कुरुक्षेत्र" का गुणीभूत व्यंग्य है।

इस उत्कृष्ट रचना के लिए आपको बधाई।

देशमान्य श्री जयप्रकाशनारायण

पिछले कितने ही वर्षों से हमारे देश में हिंसा और अहिंसा को लेकर जो बौद्धिक द्वन्द्व और संघर्ष चल रहा है, उसका स्पष्ट चित्र इस रचना में है। यह एक अचरज की बात है कि जब संसार की जनता युद्ध की भयंकरता से भीत, कम्पित और सहमी हुई नजर आये, तब हमारे देश की राष्ट्रीय चेतना तलवार की ओर तृष्णा-भरी आँखों से देखे। मगर, बात ही कुछ ऐसी है कि जिन कारणों से प्रेरित होकर युद्ध से सहमा हुआ पश्चिमी संसार परमाणु-बम की खोज में व्यग्र है, ठीक वैसे ही कारणों से और उन्हीं कारणों से उत्पन्न परिस्थितियों के चलते आज महात्मा गाँधी का हिन्दुस्तान तलवार की तात्कालिक उपादेयता समझने को विवश हुआ है।

"कुरुक्षेत्र" का कवि इस जटिल प्रश्न की तह में वहाँ तक गया है जहाँ तक हमारे देश का एक राष्ट्रीय कवि आज जा सकता है। चिन्तन की गंभीरता और विचारों की सजीवता की दृष्टि से तो यह पुस्तक पठनीय है ही, कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी इस काव्य का स्थान ऊँचा होना चाहिए।

कुरुक्षेत्र का काव्य महाभारत का प्रसंग लेकर चला है, किन्तु, उसकी पंक्तियों में वर्तमान भारत की सतेज आत्मा हुंकार भरती जान पड़ती है। कुरुक्षेत्र में, अन्ततः, जिस दर्शन का निरूपण किया गया है, वह क्रान्तिकारी, तथ्यपूर्ण और तर्क-सम्मत है। उसका सामंजस्य जीवन से है; आकाश से अधिक वह धरती का दर्शन है। उसका संबंध वास्तविकता से है। वह निवृत्ति और निष्क्रियता के मूल पर ही प्रहार करता है और कितनी ही परम्परागत भ्रान्त धारणाओं और मान्यताओं की शून्यता स्पष्ट कर देता है।

आज के युग में इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार हो, मैं यही चाहता हूँ।

माननीय श्रीसंपूर्णानन्दजी, लखनऊ

बहुत सुन्दर पुस्तक है। हिन्दी में इस ढंग की कोई दूसरी पुस्तक है कि नहीं, नहीं कह सकता। जो विचार इसके पात्रों के द्वारा आपने प्रकट किये हैं उनमें से कोई-कोई भले ही यत्र-तत्र महाभारत में या अन्यत्र मिल जाय, पर, सब तो नहीं ही मिल सकते। महाभारत से यह शिक्षा निकालना आपकी अपनी चीज है। उदाहरण के लिए, चतुर्थ सर्ग में जिस भीष्म को आप सामने लाये हैं, उसे अब तक कब, किसने देखा था? ऐसा लगता है कि उसका अस्तित्व रहा होगा; कभी-कभी वह उस भीष्म को, जिसकी प्रतिमा व्यासदेव ने हमारे सामने रख दी है, व्यथित करता होगा। परन्तु, उसको प्रकाश में आने का अवसर आपने ही दिया है। जिन आशाओं का व्यंजन पीछे के सर्गों में हुआ है, वह अस्फुट रूप से लाखों हृदयों में उस समय घुट रही होंगी; आज करोड़ों कण्ठों से स्फुट या अर्ध-स्फुट स्वरों में फूट निकली हैं। पराशक्ति उन्हें मूर्त्त करे।

ऐसे विचार-सागर में अवगाहन करने का अवसर देने के लिए आपका ऋणी हूँ।

कुरुक्षेत्र मानव-समाज में नित्य मचा रहता है। परन्तु, उसके आभ्यन्तर रूप का जो पहलू आपने हमारे सामने रखा है उस तक हमारे कवियों की, प्रायः, पहुँच ही नहीं हुई थी। यह इस दिशा में उपज्ञा है।

श्रीमती महादेवीजी वर्मा, प्रयाग

कुरुक्षेत्र इतना अच्छा लगा कि मैंने ज्वर के आने-जाने के अवकाश में

ही उसे पूरा सुन लिया। महाभारत का यह रक्त-प्रश्न-चिह्न प्रत्येक युग के सामने उत्तर की चुनौती रखता आया है। आपने "कुरुक्षेत्र" में उसे अपने युग के अनुरूप उत्तर दे दिया।

रायबहादुर पण्डित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी "श्रीवर", लखनऊ

शंखध्वनि-सी, क्षात्रधर्म की सारभूत यह परम पुनीता,
निःसंकोच इसे कह सकते हिन्दी में हम अभिनव गीता।
शिष्ट और सौष्ठवमय, सुन्दर, ओजपूर्ण है इसकी भाषा,
छन्दों में गति, गति में प्रतिभा, पद-पद में शिव की अभिलाषा।
साधुवाद! इस काव्य अलौकिक के निर्माता हे प्रिय दिनकर!
करो बधाई स्वीकृत मेरी, विनयावनत तुम्हारा श्रीवर।

पण्डित हजारी प्रसादजी द्विवेदी, शान्तिनिकेतन, बोलपुर

अपने देश के एक प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य ने "शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धी चारुता के साहित्य" (= साथ-साथ रहने के भाव) को काव्य कहा था। कुरुक्षेत्र में यह साहित्य इतना अधिक है कि उस आलंकारिक आचार्य को भी देखकर अचरज में पड़ जाना पड़ता। भाषा के प्रवाह और विचार के गांभीर्य में इतनी स्पर्द्धा कम देखने को मिलती है। कुरुक्षेत्र हमारी भाषा का गौरव है। इस देश का भविष्य उज्ज्वल है, साहित्य का भवितव्य महान् है जो इस श्रेणी की कविता लिखी जाने लगी है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये।

कलामर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदास जी, काशी

हिन्दी के वर्तमान काव्य-साहित्यकारों में दिनकरजी का अपना स्थान है। खड़ीबोली के जो उत्थान हुए हैं, जिनमें पहले के प्रवर्तक गुप्त जी और दूसरे के प्रसाद जी हैं, उनका सामंजस्य हम दिनकर जी की रचनाओं में पाते हैं। दिनकर जी की रचनाएँ हिन्दी के लिए विशिष्ट श्लाघ्य वस्तुएँ हैं और उनके कारण कवि ने अपना जो स्तुत्य एवं स्पृहणीय स्थान बना लिया है, वह सर्वथा अभिनन्द्य है।

कुरुक्षेत्र में युद्ध और शान्ति-जैसी शास्वत समस्या पर विचार किया

गया है। काव्य और तर्क, अनुभूति और विवेक, हृदय और मस्तिष्क का जो सामंजस्य कुरुक्षेत्र में मिलता है वह अत्यन्त दुर्लभ है।

प्रोफेसर डाक्टर नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्, दिल्ली

हमारी पीढ़ी के कवियों में प्रसादजी की विरासत आपको ही मिली है—वह विरासत जिसमें विराट और कोमल एक आलिंगन-पाश में आबद्ध हैं। नई कविता की प्रगति देखकर मन निराश हो चला था। आपका कुरुक्षेत्र पढ़कर मन को सुख हुआ।

पण्डित शान्तिप्रियजी द्विवेदी, काशी

कुरुक्षेत्र बहुत ही सारगर्भित काव्य है। बिलकुल ठीक समय पर आपने अपने कवि-व्यक्तित्व का सार्थक संदेश दिया है। आज की उलझी हुई समस्याओं पर आपका चिन्तन बड़े ही सुस्पष्ट और मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त हुआ है। जो इसे पढ़ेगा वह महाभारत का हृदय-सर्वस्व पा जायेगा। मैं इस काव्य को केवल साहित्यिक पाठकों के हाथ में ही नहीं, बल्कि, राज-नीतिज्ञों के हाथ में भी देखना चाहता हूँ। यह उनके लिए पथ-प्रदर्शक का काम देगा। छठाँ सर्ग कवित्व की दृष्टि से पूर्ण प्रांजल जान पड़ा।

प्रोफेसर विश्वनाथ मिश्र, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

विचारों के न्यास और वाक्यविन्यास में निगूढ़ बन्ध इतना अधिक है कि प्रत्येक छन्द व्याख्या के विस्तार की भूमि पाकर स्वच्छन्द निबन्ध का हेतु बन सकने की समर्थता को प्राप्त हो गया है। ऐसी कसावट इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग की स्वच्छन्द काव्य-धारा का एक प्रवाह वह भी है जो जीवन की बढ़ती हुई संकुलता के अनुरूप कठिन कवि-कर्म में निरत होकर साहित्य की साधना को सिद्धि तक पहुँचाने की क्षमता रखता है।

श्री शिवमंगलसिंहजी सुमन, काशी

अनायास ही कहीं से कुरुक्षेत्र हाथ लग गया। कुछ पन्ने उलटे-पुलटे ; चस्का लगा ; बड़ा प्रयत्न किया, पर, बिना समाप्त किये उठने का साहस ही नहीं हुआ। पाठक के रूप में, जहाँ तक याद है, आजतक मैंने किसी लेखनी

की इतनी विवशता स्वीकार नहीं की। हृदय से मनाता हूँ कि यह युगान्तरकारी काव्य युग-युग का संवत् बने। हिन्दी-साहित्य का भविष्य बड़ा उज्ज्वल लग रहा है। गीताकार अपनी वाणी का इतना भव्य Interpretation सुनकर, पता नहीं, क्या कहता। मुझे भय है कि कहीं "कुरुक्षेत्र" वर्तमान युग की गीता न बन बैठे। हताश मानव-मन तथा किंकर्तव्यविमूढ़ युग के लिए इससे बढ़कर अन्य पाथेय मिल ही क्या सकता था?

श्री बैजनाथसिंह "विनोद", काशी

कुरुक्षेत्र मुझे अद्भुत काव्य मालूम हुआ। उसमें भारतीय समाज का विकास चमकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी का जो स्थान है, वही स्थान ऐतिहासिक विकास-क्रम में कुरुक्षेत्र का भी है। कुरुक्षेत्र वह सीमा-रेखा है जहाँ से हम एक दूसरी दुनिया में प्रवेश करते हैं।

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय, लखनऊ

कुरुक्षेत्र के कुछ पृष्ठ पढ़कर ही हृदय पुलकित हो उठा। आपकी इस प्रगति का मैं अभिनन्दन करता हूँ। आपकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा अक्षय हो।

प्रोफेसर पण्डित नलिनविलोचन शर्मा, पटना

"कुरुक्षेत्र" के उद्देशों और प्रकरणों की आकस्मिकता तथा चित्रों की सूक्ष्मता और व्यक्तता से बहुत ही प्रभावित हुआ। छन्द, अन्त्यानुप्रास और प्रतीक आपकी बारीक कारीगरी एवं अभिनव कल्पनाशक्ति के समन्वय से झंकृत तथा सजीव हो उठे हैं।

काव्य के तत्त्व का बौद्धिकतापूर्ण (Cerebralised) विवेचन आधुनिक हिन्दी-कविता की न्यूनता तथा विवेकशील आलोचक की माँग की पूर्त्ति करता है।

आपकी कला की प्रखरता हिन्दी की दुर्लभ विशिष्टता है।

पण्डित जनार्दन प्रसाद झा द्विज, औरंगाबाद

कुरुक्षेत्र हमारे काव्य-जगत का गौरव-विन्दु है। उस पर सभी हिन्दी-भाषा-भाषियों को स्वाभाविक अभिमान होना ही चाहिए।

पण्डित रामानन्द शर्मा, मद्रास

कुरुक्षेत्र के सम्बन्ध में साहित्य-जगत का मौन मुझे बेहद खटक रहा है। आपकी यह रचना तो 'कामायनी' से ऊँची नहीं तो बिलकुल उसके जोड़ की मालूम होती है।

पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी, काशी

निश्चय ही, यह प्रथम श्रेणी का काव्य है और इसका मूलभूत चिन्तन भी श्रेष्ठ कोटि का है। इस चिन्तन-प्रधान काव्य की सफलता पर दो मत नहीं हो सकते। आप की भाषा में नैसर्गिक बल और छन्दों में प्रवाह है। हिन्दी-काव्य की, इस रचना से, श्रीवृद्धि हुई है। यह हिन्दी के स्थायी साहित्य को एक मूल्यवान् उपहार है।

पण्डित जानकीवल्लभजी शास्त्री, मुजफ्फरपुर

हिन्दी का, कदाचित्, यह प्रथम पुरुष-काव्य है। प्रबन्धगत सभी रीति-रूढ़ियों से परे इस सबल, सतेज काव्य-पुरुष की धीर-गंभीर वाणी किसे न आकृष्ट करेगी? आपने घनाक्षरी और सवैये का पुरानापन हर लिया। कुरुक्षेत्र प्रबन्ध-काव्य के इतिहास का जैसे एक सुनहला पृष्ठ है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, जब्बलपुर

कुरुक्षेत्र हिन्दी का गौरव-ग्रन्थ है। जितनी परस्पर-विरोधी भवनाएँ हमारे युग को व्याकुल कर रही हैं, उनके सार को कुशल कवि ने अपने अद्भुत ओज के साथ चित्रित किया है। मैं इस उक्ति से सहमत हूँ कि यह वर्तमान युग की गीता है। घर-घर में इसका अध्ययन होना चाहिए। इस पुस्तक का स्थायी प्रभाव हमारे समय पर पड़ कर रहेगा।

दैनिक आर्यावर्त, पटना

छोटे-से निबन्ध में "कुरुक्षेत्र" की महिमा पूर्णतः गायी नहीं जा सकती और हम संक्षेप में इतना ही कहना चाहते हैं कि यह काव्य युग-प्रवर्तक है और इसका कवि युग-प्रवर्तक महाकवि।

The Indian Nation (English Daily), Patna.

A true poet must needs before his own age be even with the posterity. In KURUKSHETRA Dinkar has amply exhibited this attribute and full of "thoughts that breathe and words that burn" the last canto of this monumental Epic will most undoubtedly survive all ravages of time and transcend all limits of space to inspire all human hearts of distant lands as well as generations to come. As Tulsidas in his Ramcharitamanas rejuvenated the Muse of VALMIKI, so has Dinkar's KURUKSHETRA revitalised the CALLIOPE of VEDAVYAS. The book, it is fervently hoped, will enrich the treasure of world literature.

The Searchlight (English Daily), Patna.

The book is bound to go down in the history of the current Hindi poetry as a great master-piece of ideas and thoughts and its author will, no doubt, be recognised as a top-ranking poet of his time. We only wish that the book were translated into some of theEuropean languages so that its appreciation would increase.

दैनिक भारत, प्रयाग

हिन्दी के काव्य-साहित्य में कुरुक्षेत्र को आदरणीय स्थान मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

दैनिक सन्मार्ग, काशी

कुरुक्षेत्र को राष्ट्रिय निधि कहने में हमें अभिमान है। केवल इस रचना के लिए ही कवि का देशव्यापी अभिनन्दन होना चाहिये।

दैनिक संसार, काशी

कुरुक्षेत्र में युगधर्म पुकार रहा है, भारत का यौवन गरज रहा है। नवीन संसार की उषा झलक रही है। अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए दिनकरजी ने साम्यवाद का जो आह्वान इस पुस्तक में किया है, उसका हम स्वागत करते हैं। प्रसाद गुण तो इसकी महती विशेषता है। विचारों की जटिलता शब्दों में नहीं फँसने पाई है। पुस्तक युग के अनुकूल है। हिन्दी को यह सुन्दर देन है।

राष्ट्रभाषा, वर्धा

युद्ध अथवा शान्ति, बाहुबल अथवा आत्मबल, निवृत्ति-मार्ग अथवा प्रवृत्ति-मार्ग का प्रश्न आज सारे विश्व के सामने नये रूप में आ खड़ा हुआ है। दिनकर ने एक दार्शनिक कवि की सूक्ष्म विचारधारा और कवि की सरसता का प्रयोग करके इन सामयिक प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया है। पुस्तक समाप्त करते ही तुरन्त फिर पढ़ने की इच्छा होती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज को उन्होंने कुरुक्षेत्र द्वारा प्रकाश की कुछ किरणों का दान दिया है, जिसके लिए उनके काव्य के प्रेमी उनके कृतज्ञ होंगे।

दिनकरजी की अन्य कृतियाँ

मिट्टी की ओर

हिन्दी की वर्तमान कविता पर एक समकालीन कवि की आलोचनात्मक दृष्टि।

डिमाइ साइज : कोई सवा दो सौ पृष्ठ : मूल्य केवल ३॥)

कुछ अमूल्य सम्मतियाँ

प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हि० वि० वि०, काशी

"मिट्टी की ओर" पढ़ने लगा तो मुझे अपने ऊपर ही आश्चर्य हुआ। हिन्दी आलोचना की कोई पुस्तक मैंने रातभर जगकर यदि पढ़ी है तो स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की। यह दूसरी पुस्तक है जिसे मैं निशीथ में निरन्तर पढ़ता ही रहा। विस्मय की आत्मगत लहर रुकी तो वह परगत होकर वेग से फूटी। आप में कारयित्री प्रतिभा ही नहीं, भावयित्री भी है और वह भी निष्कल्मष—पक्षपातहीन—दिनकर-दीप्ति-सी ही पूत। मैं हृदय से आपकी इन दोनों शक्तियों—छाया और प्रभा—का अभिनन्दन करता हूँ।

कलामर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदासजी, काशी

"मिट्टी की ओर" दिनकर की गद्य की ओर प्रगति का सूचक है। गद्य के क्षेत्र में दिनकर का यह पहला दर्शन हमें आलोचक और विचारक के रूप में होता है। जो प्रबल ओज और शक्ति दिनकर की कविताओं में मिलती है, वही उनके गद्य में विद्यमान है। दिनकर का मस्तिष्क सुलझा हुआ है और उनके विचार सर्वथा मौलिक हैं। "मिट्टी की ओर" में संगृहीत निबन्धों में ठोस पाण्डित्य तो है ही, साथ ही उनकी शैली में कवि-सुलभ स्निग्धता और कोमलता भी है। दिनकर के इस नवीन स्वरूप का हम हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन करते हैं।

शब्द शिल्पी श्रीशिवपूजन सहाय, छपरा

सच्चे और स्वाभाविक कवि की कला, प्रायः, गद्य और पद्य में समान रूप से चमत्कार एवं सौन्दर्य उत्पन्न करती दीख पड़ती है। दोनों की कसौटी पर खरा उतरनेवाला कलाकार केवल साहित्य का ही नहीं, समाज और राष्ट्र का भी गौरव है। दिनकर जी वैसे ही कलाकार हैं।

The SEARCHLIGHT (English Daily), Patna

He (the author) has given a very fine and lucid exposition of the CHHAYAVAD which has been baffling the critics for a long time. To us it appears that the genesis of that literary movement, has for the first time, been expounded in a brave and candid way by a poet who has himself been romantic in his moods,

The Indian Nation (English Daily), Patna.

Like his poetic works, in his essays too, Dinkar's style has the imperishable stamp of his uncommon individuality.

धूपछाँह

चित्रित आवरण : सुन्दर छपाई : हलकी-फुलकी, मौलिक और अनूदित सोलह आनन्ददायिनी कविताएँ : बच्चों को दीजिये : खुद पढ़िये : आनन्द एक-सा : मूल्य १।)

सामधेनी

हुंकार के बाद दिनकरजी की राष्ट्रीय कविताओं का सबसे अधिक सुन्दर संग्रह : "कलिंग-विजय," "दिल्ली और मास्को" तथा "जवानियाँ" और "आग की भीख" कविताएँ इसी संग्रह में उपलब्ध हैं। हुंकार की ही तरह इस पुस्तक की भी लूट मची हुई है। विशेष आकार-प्रकार के लगभग सौ पृष्ठ : पुस्तक सजिल्द : मूल्य २॥)

रसवन्ती

(तृतीय संस्करण)

वह पुस्तक, जो पहले-पहल प्रकाशित होने पर हिन्दी की सौ सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में गिनी गई। वह पुस्तक, जिसे कुछ लोग कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। नया, परिष्कृत संस्करण : डिमाइ साइज : मूल्य २॥)

हुंकार

(तृतीय संस्करण)

नाम लेना ही काफी है। पुस्तक हिन्दी-जगत में काफी विख्यात है। ज्वलन्त राष्ट्रीय कविताओं का अनुपम संकलन।

नया, परिष्कृत संस्करण : डिमाइ साइज : मूल्य २॥)

द्वन्द्वगीत

(तृतीय संस्करण)

राग और वैराग्य के बीच द्वन्द्व : दार्शनिक चिन्तन और मादक कल्पना का मेल : हिन्दी की कुछ सर्वोत्तम रूबाइयों का संग्रह : मूल्य ॥)

रेणुका

(तृतीय संस्करण)

कवि की प्रथम काव्य-कृति : चित्रित, सुन्दर और सजिल्द : मूल्य ३)